दुःखी कभी नहीं होता। सुख-दुःख तो भवरोग के साथ लगे ही रहते हैं; अतः भगवद्गीता का उपदेश है कि इन्हें धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए। सुख-दुःख के आने-जाने पर किसी का वश नहीं है। अतएव विषयों से विरत हो जाय; इससे इन द्वन्द्वों की प्राप्ति में अपने-आप समता बनी रहेगी। सामान्यतः अनुकूल वस्तु की प्राप्ति होने पर हम सुखी होते हैं, और प्रतिकूल पदार्थ की प्राप्ति से दुःख अनुभव करते हैं। परन्तु आत्मस्वरूप में परिनिष्ठित हो जाने पर इन वस्तुओं का हम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। उस अवस्था की प्राप्ति के लिए अनन्य और अखण्ड भक्तियोग का आचरण करना है। नौवें अध्याय के अन्तिम श्लोक के अनुसार श्रवण, कीर्तन, अर्चन, वन्दन आदि नौ साधनों में संलग्न रहना अनन्य कृष्णभक्ति का स्वरूप है। इसी पथ का अनुसरण करना चाहिए। यह स्वाभाविक है कि भगवत्परायण पुरुष को विषयी मनुष्यों का संग अच्छा नहीं लगता, क्योंकि यह उसकी प्रकृति के विरुद्ध है। अपनी परीक्षा के लिए साधक को देखते रहना चाहिए कि अनर्थकारी कुसंग से रहित एकान्त में वह कहाँ तक रहना चाहता है। भक्त स्वभावतः अनावश्यक खेलों, चलचित्रों और सामाजिक उत्सवों में प्रीति नहीं रखता; वह पर्याप्त रूप से जानता है कि उनमें समय का अपव्यय ही होता है। ऐसे बहुत से शोधवेत्ता और दार्शनिक हैं, जो मैथुन आदि पर शोध किया करते हैं। भगवद्गीता के मत में इस शोधकार्य अथवा दार्शनिकता का कोई मूल्य नहीं; यह सब वस्तुतः अनर्थमय है। भगवद्गीता के अनुसार, दार्शनिक विवेक के द्वारा आत्मा के स्वरूप की ही गवेषणा करनी चाहिए। अध्यात्म के प्रयोजन का अन्वेषण करे, ऐसा यहाँ उपदेश है।

जहाँ तक स्वरूप-साक्षात्कार का सम्बन्ध है, भक्तियोग को स्पष्ट रूप से अधिक व्यावहारिक घोषित किया गया है। भक्ति का तात्पर्य परमात्मा और जीवात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध से है। कम से कम भक्तियोग में तो परमात्मा और जीवात्मा एक नहीं हो सकते। अतएव पूर्वकथन के अनुसार जीवात्मा द्वारा परमात्मा की यह सेवा नित्य है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि भक्तियोग शाश्वत् है। इस दार्शनिक निष्ठा में स्थिति का ही नाम **ज्ञान** है। इससे विपरीत जो कुछ भी है, वह सब अनर्थमय अज्ञान है।

श्रीमद्भागवत (१.२.११) के अनुसार, **वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयं ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।** 'परमसत्य के तत्त्वज्ञ जानते हैं कि उसकी अनुभूति, ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन स्वरूपों में होती है।' भगवान परमसत्य की अनुभूति के शिखर हैं; अतएव श्रीभगवान् के तत्त्व को समझ कर उनकी भक्ति के परायण हो जाना चाहिए। ज्ञान की पूर्णता इसी में है।

यह पद्धति उस सीढ़ी के समान है, जिसका पहला सोपान विनम्रता है और अन्तिम सोपान भगवत्प्राप्ति है। कितने ही मनुष्य इस निःश्रेणी के प्रथम सोपान पर हैं, कुछ दूसरे पर हैं और कुछ तीसरे सोपान तक पहुँच गए हैं, इत्यादि। परन्तु जब तक साधक कृष्णतत्त्व रूपी अन्तिम सोपान पर नहीं पहुँचता, तब तक उसका ज्ञान अपूर्ण ही रहता है। जो भगवान् से स्पर्धा रखते हुए भी ज्ञान-प्राप्ति करना चाहता है,